

**शि**क्षा विमर्श का यह अंक जिस वक्त प्रकाशन की प्रक्रिया में है, देश की आबोहवा में राजनैतिक चर्चाओं की गहमागहमी है। इस गहमागहमी में अनेक बार यह ख्याल आया कि इस वक्त क्यों न एक अंक 'शिक्षा और राजनीति' पर निकाला जाए। अनेक बार यह सवाल उठता है कि चुनाव के वक्त सभी राजनैतिक दल देश के विकास, सभी के विकास, भ्रष्टाचार रहित भारत आदि के दावे करते हैं लेकिन इनकी विकास की अवधारणा में शिक्षा की क्या जगह है? क्यों न इसकी जांच-पड़ताल की जाए कि तमाम राजनैतिक दल अपने-अपने घोषणा पत्रों में शिक्षा को कितनी जगह देते हैं? इनमें शिक्षा के लिए क्या-क्या घोषणाएं करते हैं और यह घोषणाएं संविधान में वर्णित समता और न्यायपूर्ण समाज के लक्ष्य की दिशा में बढ़ने के लिए कितनी उपयुक्त हैं? इसके साथ इनके दावों की विश्वसनीयता के लिए इस बात का भी जायजा लिया जाए कि विभिन्न राजनैतिक दलों ने उनके द्वारा शासित प्रदेशों में सार्वजनिक शिक्षा के लिए अभी तक क्या-क्या कदम उठाए हैं?

पिछले करीब तीन दशकों में सरकारी नीतियों और नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था ने लोक हित को तिलांजलि देते हुए आम जन से अलग-थलग विकास की ऐसी अवधारणा को जन्म दिया है जो वर्ग विशेष के हितों को साधने का जरिया बन गई है। आम जन की खुशहाली तय करने वाली सार्वजनिक स्वास्थ्य और शिक्षा व्यवस्था ने निजीकरण की चौखट थाम ली है। सार्वजनिक व्यवस्थाओं की लचर हालत ने शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी बुनियादी जरूरतों को बेलगाम बाजार के सुपुर्द कर दिया है और शिक्षा एक स्वीकृत व्यवसाय में तब्दील होती जा रही है। अनियंत्रित बाजारवादी व्यवस्था ने 'प्रतिस्पर्द्धा से गुणवत्ता' और 'उपभोक्ता का गुणवत्ता पर नियंत्रण' जैसे सिद्धान्तों को भी बेकार साबित कर दिया है। क्या ऐसी स्थिति में यह उम्मीद की जा सकती है कि इस नए राजनैतिक विमर्श से आम जन का विश्वास नई दिशा प्राप्त करेगा और राजनैतिक व्यवस्था प्रति उसका भरोसा पुनः स्थापित होगा?

इस संदर्भ में अभी किसी भी तरह के दावे करना उचित नहीं होगा। हालांकि ऐसा प्रतीत होता है कि भारत की जनता का राजनीति से मोहभंग एक राजनैतिक चेतना में परिवर्तित होने लगा है, इस मायने में ठहरे पानी में लहर पैदा हो रही हैं। शायद यह सही वक्त है जब बुद्धिजीवियों और शिक्षाविदों को सभी के लिए समान गुणवत्ता की शिक्षा जैसे विचार को इस नए राजनैतिक विमर्श में लाने के प्रयास करने चाहिए। क्योंकि शिक्षा के अधिकार कानून के क्रियान्वयन के लगभग चार साल पूरे होने के बावजूद अब यह आशा करना व्यर्थ प्रतीत होता है कि वह सभी के लिए समान गुणवत्ता की शिक्षा प्रदान करवाने में सफल होगा। बल्कि जो आशंकाएं इस कानून के आने के समय व्यक्त की जा रही थीं वे सही साबित होती दिखाई दे रही हैं। एक आशंका यह की जा रही थी कि यह कानून निजीकरण को बढ़ावा देने में मदद करेगा। इस कानून ने सार्वजनिक शिक्षा को बेहतर बनाने के स्थान पर सरकारी महकमे के ध्यान को भटकाने में मदद की है। यदि विभिन्न राज्यों में इस कानून के क्रियान्वयन पर निगाह डालें तो यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि सरकारी मशीनरी ने अपना पूरा ध्यान निजी स्कूलों में 25 प्रतिशत आरक्षण को सुनिश्चित करने में लगा दिया है। शिक्षा राजनीति से परे नहीं होती इसलिए राजनीति की तैयार होती नई जमीन में सभी के लिए समान गुणवत्ता की शिक्षा के विचार रूपी बीज को रोपने का यह उपयुक्त समय है। ♦

*दिलीप*